

ऐतरेय आरण्यकमें प्राण-महिमा

आचार्य विष्णुदत्त गर्ग

‘ऐतरेयब्राह्मणेऽस्ति काण्डमारण्यकाभिधम् ।

आरण्य एव पाठ्यत्वात् आरण्यकमितीर्यते ॥’

आरण्यक तथा उपनिषद् ब्राह्मणोंके परिशिष्ट ग्रन्थके समान हैं, जिनमें ब्राह्मण ग्रन्थोंके सामान्य प्रतिपाद्य विषयसे भिन्न विषयोंका प्रतिपादन सर्वत्र दृष्टि गोचर होता है। इनका मुख्य विषय यज्ञ नहीं, प्रत्युत यज्ञ-यागोंके भीतर विद्यमान आध्यात्मिक तथ्योंकी सीमांसा है। संहिताके मन्त्रोंमें जिस विद्याका सङ्केत मात्र उपलब्ध होता है, आरण्यकोंमें उन्हीं बीजोंका पल्लवन है। चारों वेदोंसे सम्बद्ध जैसे अलग अलग सबके ब्राह्मण ग्रन्थ हैं वैसे ही उनपर आश्रीयमाण आरण्यक भी। ऐतरेय आरण्यक ऋग्वेदके आरण्यकोंमें अन्यतर है, जो ऐतरेय ब्राह्मणका ही परिशिष्ट भाग है। इसमें ५ पाँच भाग हैं जो विषय-विभाग व सम्प्रदाय भेदसे पृथक्-पृथक् ग्रन्थके रूपमें माने जाते हैं। तथाहि—

‘तत्र गवामयनमित्याख्यस्य संवत्सरात्मकसत्रस्य शेषो महाव्रतनामकं कर्म प्रथमारण्यकस्य विषयः। द्वितीयस्य तृतीयस्य चारण्यकस्य ज्ञानकाण्डं विषयः। चतुर्थारण्यकेऽरण्याध्ययनार्थाः ‘विदामघवन्’ महानाम्न्याख्यायमन्त्राः प्रोच्यन्ते। पञ्चमे त्वारण्यके महाव्रताख्यकर्मण एव प्रयोग उच्यते। तदेव मैतरेयारण्यके प्रथमं चतुर्थं पञ्चमं चारण्यकं कर्मपरम्, द्वितीयं तृतीयं च ज्ञानकाण्डमित्यवसीयते।’

वैसे तो इसमें वाणी एवं मनके स्वरूप व उसकी महिमा, स्वाध्याय धर्म व अध्यापन नियम, मानव जीवनके आदर्श उद्देश्य, राजनीति, यज्ञ, चन्द्रमा-आदित्य-प्रजापति-वरुण आदि देवोंका वर्णन, स्वर्गादिलोकों की कल्पना, अन्न, ऋतु, ओषधि, वनस्पतियोंका वर्णन, मनुष्य, पशु आदिके स्वभावका वर्णन, अध्यात्म-विद्या व ब्रह्मविद्याका निरूपण, जैसे विविध विषयोंका विवेचन किया गया है किन्तु द्वितीय प्रपाठकके प्रथम तीन अध्यायोंमें उक्थ या निष्केवल्य शस्त्र तथा प्राण विद्या और पुरुषका जो व्याख्यान है, वह सर्वथा स्पृहणीय है। इन सबमें प्राणविद्याका महत्त्व आरण्यकका विशिष्ट विषय प्रतीत होता है। आरण्यका शान्त वातावरण इस विद्याकी उपासनाके लिए नितान्त उपादेय है। इस प्रकार आरण्यक न केवल प्राण-विद्याको अपनी अनोखी सूझ बतलाते हैं, अपितु ऋग्वेदके मन्त्रोंको भी अपनी पुष्टिमें उद्धृत करते हैं, जिससे प्राण विद्याकी दीर्घ कालीन परम्पराका इतिहास मिलता है।

किम्बहुना—

‘प्राणेनेमं लोकं सन्तनोति ।.....प्राणेनान्तरिक्षलोकं सन्तनोति ।.....प्राणेन अमुं लोकं सन्तनोति ।’ (ऐ० आ० १।४।३१) प्राणकी महिमासे ही लोकत्रयका विस्तार होता है। सब इन्द्रियोंमें प्राणोंकी

१. अपश्य गोपामनिपद्यमाननुमा च परा च पृथिभिश्चरन्तम् ।

स सध्रीचीः स विषूचीर्वसानुआ वरीवति भुवनेष्वन्तः ॥ऋ० १।१६।३१

अपाङ् प्राङ्तेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनः ।

ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यऽन्यं चिक्युर्ननिचिक्युरन्यम् ॥ऋ० १।१६।३८

२६८ : अगरचन्द नाहटा अभिनन्दन-ग्रन्थ

श्रेष्ठता सुन्दर आख्यायिकाके द्वारा सिद्ध की गई है। 'यत्र प्राणं विना सर्वाणीन्द्रियाणि विद्यमानान्यपि अविद्यमानवद् भान्ति।' अस्तु—

'सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः, तद्यथाऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः। एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्।' (ऐ० आ० २।१।६।) अर्थात् प्राण इस विश्वका धारक है। प्राणकी ही शक्तिसे ही यह आकाश अपने स्थानपर स्थित है, उसी तरह सबसे विशालतम जीवसे लेकर पिपीलिका पर्यन्त समस्त जीव इस प्राणके द्वारा ही विधृत है। यदि प्राण न होता तो विश्वका महान् संस्थान, जो यह हमारे नेत्रोंके समक्ष है, वह कहीं भी नहीं रहता।

जीवात्माका प्राण वायुके साथ अन्वय व्यतिरेकि संबन्ध है। इसके विना प्राणिजगत्की सत्ता सुरक्षित नहीं, और इसीलिए अनुभव कोटिमें प्रतिष्ठित ऋषि उसके साथ अपना अटूट सम्बन्ध बताता है कि तुम हमारे ही और हम तुम्हारे हैं।^१ 'दिन ही प्राण है रात्रि अपान है' यह प्राण ही इन्द्रियोंका अधिष्ठातृदेव होता हुआ सबका रक्षक है। यह कभी अपने व्यापारसे उपरत नहीं होता, यह भुवनोंके बीच अतिशय करके वर्तमान है, तथा दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् इसी प्राणसे आच्छादित है।^२ प्राण ही आयुका कारण है। कौषीतकि उपनिषद्में भी प्राणके आयुष्कारके होनेकी बात स्पष्ट कही गई है—'यावद्धि अस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः।' अतः प्राणके लिए गोपा शब्द युक्तियुक्त है।

प्राणकी महिमा जब समाजमें पर्याप्त प्रतिष्ठित हो गई तो वह उपास्य बन गया। जिसने उसकी उपासना की उसीने जीवनमें अमरत्व प्राप्त किया तथा जो प्राणकी उपासनासे वञ्चित रहा वह विनाशको प्राप्त हुआ भी यह प्राण मृत्यु व अमृत^३ भी कहलाया। इसके निकलनेसे देहके मरने (निष्क्रिय होने) में ही प्राणका मृत्युत्व व इसकी सत्ताके सद्भावमें देहकी अविनश्यत् दशा (सक्रियावस्था) में ही इसका अमृतत्व है।^४ प्राणको, अन्तरिक्ष तथा वायु दोनोंका स्रष्टा व पिता कहा गया है, अतः दोनों प्राणकी परिचर्या करते रहते हैं।^५ देहसे प्राणोंकी तुलना करते समय देहको मर्त्य व प्राण देवताको अमृत कहा है। एक पराश्रित है तो दूसरा स्वाश्रित—

'मर्त्यानि हीमानि शरीराणि, अमृतैषा देवता.....। निचिन्वन्ति (अन्नादिना वृद्धिमुपगच्छन्ति) हैवेमानि शरीराणि अमृतैषा देवता। (ऐ० आ० २।१।८।)

अद्भुत महिमाके ही कारण प्राणको सूर्य भी कहा गया है। 'प्राणो ह्येष य एष तपति।' (ऐ० आ० २।१।१) के व्याख्यानमें सायणाचार्यने कहा है कि—'हमारे दृश्यमान, (आकाश) मण्डलमें स्थित होता हुआ जो यह तपता है, वह प्राण ही है, आदित्य एवं प्राणमें भेद नहीं है। केवल स्थानगत भेद है। एक अध्यात्म संज्ञक है तो दूसरा अधिदैव।'^६ प्राणोंको आदित्यरूप देनेमें उपनिषद् भी प्रकाण है—'आदित्यो

१. तदप्येतदृषिणोक्तम् । त्वमस्माकं तव स्मसीति । ऐ० आ० २।१।४
२. अहरेव प्राणः रात्रिरपानः २।१।५। एष वै गोपाः, एष हीदं सर्वं गोपायति नह्येष कदाचन संविशति । एष ह्यन्तर्भुवनेषु आवरीर्वति सर्वं हीदं प्राणेनावृतम् २।१।६।
३. स एष मृत्युञ्जैवामृतञ्च । (ऐ० आ० २।१।८।)
४. स्वनिर्गमनेन देहमरणात् प्राणस्य मृत्युत्वम् । स्वावस्थानेन देहमरणाभावात् अमृतत्वम् ।
५. प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च । एवमेतौ प्राणपितरं परिचरतोऽन्तरिक्षं च वायुश्च ।—सायण ।
६. य एष मण्डलस्थोऽस्माभिर्दृश्यमानस्तपति स एष प्राणो हि । न खल्वादित्यप्राणयोर्भेदोऽस्ति । अध्यात्म-मधिदैवं च इत्येव स्थानभेदमात्रम् ।—सायण ।

ह वै बाह्यः प्राण उदत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः ।' प्रश्नोपनिषद् ३।८ । परिणामतः आदित्य व प्राणकी एक रूपता भी है । एक ही पदार्थ, देह प्रवर्तन हेतु, प्राणरूपसे अन्तः अवस्थित है, तो वही चक्षुको अनुगृहीत करनेके लिए सूर्यरूपमें बहिः अवस्थित है ।^१ अतः प्राणकी भाँति सूर्यको भी 'सूर्य आत्मा जगत्-स्तस्थुषश्च' (ऐ० आ० २।२।४) कहा है । सूर्यकी अर्चनाके कारण ही पुरुष शतायु है ।^२

यह प्राण देवात्मक होता हुआ ऋषि रूप भी है, अतएव इसे कहीं विश्वामित्र तो कहीं वामदेव, कहीं भरद्वाज तथा कहीं वशिष्ठ नामोंसे भी अभिहित किया गया है, भले ही यह नाम रूढि न होकर अन्वर्थ हों । यथा—'प्रजा वै वाजः ता एष बिभर्ति एष उ एव बिभ्रद्वाजः ॥ भरद्वाजः । तं देवा अब्रुवन्नयं वै नः सर्वेषां वशिष्ठ इति । तस्येदं विश्वं मित्रमासीत्.....तं देवा अब्रुवन्नयं वै नः सर्वेषां वाम इति ।'..... (ऐ० आ० २।२।२.२) ।

हिरण्यदन्वेद नामक एक ऋषिने प्राणके देवात्मक स्वरूपको जाना था, तथा प्राणकी देवतारूपसे उपासना की थी । इस उपासनाका विपुल फल भी उसे प्राप्त हुआ । (ऐ० आ० १०३-१०४) एक ही प्राण कहीं सात, कहीं नव, कहीं दश तथा कहीं बारह प्रकारका बताया गया है ।^३ अस्तु—इस प्रकार इस आरण्यकमें प्राणकी अत्यन्त महिमा गाई गई है । इसके अनुसार जितनी ऋचायें हैं, जितने वेद हैं, जितने घोष हैं वे सब प्राणरूप हैं । प्राणको ही इन रूपोंमें समझना चाहिए तथा उसकी उपासना करनी चाहिए ।^४ किम्बहुना—

'प्राणो वंश इति विद्यात्' (ऐ० आ० ३।१।४) अर्थात् लोकमें जैसे वंश गृहका धारक होता है वैसे ही यह प्राण देह गृहका धारक है ।^५ इस प्राणकी इतनी अधिक महिमाका महत्त्व तो तब बढ़ जाता है जब हम उसी शास्त्रमें वर्णित इसकी इयत्ताको देखते हैं । 'एतावता वै प्राणाः संमिताः' (ऐ० आ० १।२।४) यह एक वाक्य खण्ड है जिसका विवेचन करते हुए सायण कहते हैं कि—

'प्राणवायवो हि देहस्यान्तर्हृदयादूर्ध्वं प्रादेशमात्रं संचरन्ति । मुखादबहिरपि सञ्चरन्तः प्रादेशमात्रेण संमिता भवन्ति ।'

इन शतशः उपलब्ध निर्वचनोंसे सिद्ध होता है कि प्राणके इन गुणोंको जानकर तत्तद्रूपसे उसकी उपासना करनी चाहिए, नानारूपोंसे भावनाको दृढ़कर उपासना करनेसे फल भी तदनु रूप उपासकको प्राप्त होंगे ।

देवासुर संग्राममें रिपुविजयकी कामनासे देवोंने ऐश्वर्यके प्रतीकके रूपमें इस प्राण देवताकी उपासना की थी, अतः विजयो हुए; और इसके विपरीत असुर उसे (प्राणदेवताको) असमृद्धिका हेतु समझ

१. एक एव पदार्थो देहं प्रवर्तयितुमन्तःस्थितो दृष्टिमनुगृहीतुं बहिः स्थित इति एतावदेव द्वयो-र्वैषम्यम् ।—सायण ।
२. य एष तपति । तं शतं वर्षाण्यभ्यार्चत्तस्माच्छतं वर्षाणि पुरुषायुषो भवन्ति—ऐ० आ० २।२।१ ।
३. सप्त वैशीषत् प्राणाः (ऐ० आ० १।५।२) नव प्राणा आत्मैव दशमः (ऐ० आ० १।३।७) नव वै प्राणाः (ऐ० आ० १।३।८) द्वादशविधा वा इमे प्राणाः (ऐ० आ० १।५।१) ।
४. सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राणः ऋच इत्येव विद्यात्—(ऐ० आ० २।२।१०) ।
५. लोके यथा वंशो गृहस्य धारकस्तथैव प्राणोऽयं देहगृहस्य धारक इति भावः ।—सायण ।

२७० : अगरचन्द नाहटा अभिनन्दन-ग्रन्थ

बैठे अतः पराजित हुए ।^१ इसीलिए महर्षि विश्वामित्रके सन्देह प्रकट करनेपर देवराज इन्द्रने भी कहा कि 'हे ऋषे ! मैं प्राण हूँ, तुम प्राण हो, चराचर दृश्यमान जगत् सब प्राण है ।'^२

इस प्रकार जो प्राण शब्द वैदिक साहित्यमें स्वासके अर्थमें आरण्यकों एवं उपनिषदोंमें एकताके प्रतीकके रूपमें, शारीरकशास्त्रमें जो इन्द्रियों, शीर्षरंघ्रोंके बोधकके रूपमें तथा वागिन्द्रिय व रसनेन्द्रियके रूपमें देखा गया, वह वस्तुतः अन्वर्थतया जीवनाधायक है ।^३ परवर्ती साहित्यमें इसके चिन्तनका श्रेय केवल योगशास्त्रको ही मिला, जिसमें यमादि अष्टाङ्गोंमें प्राणायामको विशेष स्थान दिया गया । 'प्राणवायो-निरोधनमेव विशेषतो नियमेन प्राणायाम इत्युपचर्यते ।' अर्थात् विशेषविधिसे प्राणवायुके निरोधको ही प्राणायाम कहते हैं । प्राण निरोध प्रक्रियासे जन्य अद्भुत चमत्कार आज भी लोगोंको आश्चर्यमें डाल देते हैं । अस्तु—विषयकी गम्भीरता स्पष्ट है । 'ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्, प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव' (सिद्धान्त कौमुदी) की भांति प्रस्तुत विषयसे सम्बद्ध शब्दात्मक ज्ञान चाहे जितना प्रस्तुत कर दिया जाय किन्तु व्यावहारिक ज्ञान अत्यन्त जटिल एवं आचार्यपरम्परागत गम्य हैं । कुछ भी हो किन्तु फिर भी प्राण विषयक जिन विचारोंका अंकुर संहितादिमें मिलता है, उनका विशेष पल्लवन प्रस्तुत आरण्यक बहुत अच्छा बन पड़ा है । 'प्राणो वै युवा सुवासाः' 'प्राणो वै तनूनपात्' 'प्राणो वै सः' इत्यादि रूपमें वह (प्राणदेवता) स्वयं भोक्ता एवं भोग्यरूपमें सर्वतोभावेन प्रतिष्ठित है ।

•

१. तं (प्राणदेवम्) भूतिरिति देवा उपासाञ्चक्रिरे ते बभूवुः । अमूतिरिति असुरास्ते पराबभूवुः । (ऐ० आ० २।१।८) ।
२. तम् (विश्वामित्रम्) इन्द्र उवाच । प्राणो वा अहमस्मि ऋषे, प्राणस्त्वम्, प्राणः सर्वाणि भूतानि... । (ऐ० आ० २।२।३) ।
३. उद्यन्तु खलु आदित्यः सर्वाणि भूतानि प्रणयति तस्मादेनं प्राण इति आचक्षते । (ऐ० ब्रा० ५।३।१) ।
४. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

विविध : २७१